शंकरदेव और सूरदास के काव्य में वर्णित 'गोपी- उद्धव' संवाद का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. विजय मणि त्रिपाठी

सूरदास और शंकरदेव दोनों ही कृष्ण भक्त कवि हैं। शंकरदेव ने कृष्ण के साथ ही साथ विष्णु के अन्य अवतारों को भी अपनी भक्ति और काव्य तथा नाटकों का वर्ण्य विषय बनाया है। यहाँ दोनों ही भक्त कवियों द्वारा गोपी - उद्धव संवाद को लेकर लिखी गई पंक्तियों का विवेचन, विश्लेषण करना हमारा उद्देश्य है। सूरदास ने सूरसागर में गोपी - उद्धव संवाद को वर्णित किया है। जिसका अलग से 'भ्रमरगीत सार' के रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने प्रकाशन किया है। शंकरदेव ने भी ब्रजबुलि में लिखित 'बरगीतों' के अंतर्गत गोपी - उद्धव संवाद को लेकर गीतों की रचना की है।

यदि सतही तौर पर देखा जाए, तो दोनों में कुछ खास अंतर दिखाई नहीं देता है क्योंकि दोनों ही रचनाकारों ने अपने आराध्य देव को लेकर तरह-तरह की भक्ति परक उक्तियां कीं। लेकिन जैसे ही हम शंकरदेव कालीन असम के समाज वहां की राजनैतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति आदि को ध्यान में रखकर इन पंक्तियों को पढ़ेंगे, तो इसकी विशिष्टता तथा उद्देश्य दोनों का पता चल जाएगा। जो निश्चित ही सूरदास के उद्देश्य से भिन्न प्रतीत होता है। अतः शंकरदेव के द्वारा रचित 'बरगीत' (जिसके अंतर्गत गोपी उद्धव संवाद भी है) पर विचार करने से पहले असम की तात्कालिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

शंकरदेव का समय सन् 1449 से लेकर 1568 ई. तक है। इस समय के असमिया समाज पर नजर डालते हैं, तो पाते हैं कि इस समय में असम विभिन्न जातियों एवं जनजातियों में बंटा हुआ है। इस बिखराव के कारण सबकी अपनी-अपनी मान्यताएं, रीति रिवाज, रीतियाँ, कुरीतियां, सामाजिक व्यवस्था आदि हैं। इनमें इन सबको लेकर आपसी टकराव ज्यादा है। कह सकते हैं कि उस समय के असम में असमिया समाज तथा संस्कृति के नाम पर कोई संगठित, सुव्यवस्थित व्यवस्था नहीं थी। यहाँ निवास करने वाली जो बहुसंख्यक जातियां थीं, उनमें परस्पर संघर्ष होता रहता था। उस समय के असम की कुछ प्रमुख जातियां थीं। "किरात, चिंगफो, मिसमी, आबर, मिरी, डफला, अक्का, भूटिया, मिथिस, मिजो, बोड़ो, चुटिया, मरांग, लालुंग, कोच, डिमसा, मेच, कछारी, टिपरा, राभा, गारो, अंगामी, सेमा, कोंयक, तांखुल, आओ, आहोम, खामटी, फाकिंयाल, नरा, आइटनिया, तुरुंग, खामजंग, खासी आदि।"[1] यहाँ अभी कुछ प्रमुख जातियों के ही नाम गिनाये गये हैं, यहाँ बाद में विभिन्न राजाओं ने अपने राज्य में भारत के अन्य क्षेत्रों से, ब्राह्मणों तथा कायस्थ आदि जाति के लोगों को लाकर बसाया गया था।

कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय का असम परस्पर विरोधी आचार विचार वाली जातियों, उप-जातियों का मकड़जाल था। इस कारण से भी वहाँ परस्पर शांति एवं सद्भाव नहीं था। इन सभी को एक सूत्र में पिरोने के लिए और असमिया समाज नामक एक अलग सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक पहचान को निर्मित

करने के लिए, एक ऐसे विचार तत्व की आवश्यकता थी, जो सभी को स्वीकार हो। यह इतना सरल कार्य नहीं था, क्योंकि डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने डॉ. विजयेंद्र स्नातक के इस मत से सहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि "इस प्रदेश में बसने वाली जातियों में जितना वैविध्य और वैचित्र्य मिलता है कि शायद भारत में ही नहीं, विश्व के किसी भी प्रदेश में इतनी जातियों का एक ही स्थान पर समागम ना हुआ होगा। वैदिक युग के आर्य, असुर, यक्ष, राक्षस, पौराणिक युग के गंधर्व, नाग, किन्नर, गरुण, पिशाच, मध्य युग के यमन, शक, कुशाण, नाग, आदिवासी और कबीले की विविध जातियां असम से निवास करती रही हैं जिनके खान-पान, धार्मिक विश्वास, रीति' रिवाज, में बहुत भेद है।"[2] इस भेद में अभेद स्थापित करना कोई आसान काम नहीं था, क्योंकि यदि किसी एक के आचार - विचार, संस्कार, संस्कृति को सभी के ऊपर थोपने की कोशिश होती, तो दूसरी जातियों द्वारा इसका विरोध स्वाभाविक था। अतः इस पर मौलिक ढंग से विचार करके, कुछ ऐसा विचार, उपासना पद्धति, सामाजिक, सांस्कृतिक, मान्यताओं को विकसित करना था, जो सभी को स्वीकार हो सके।

सामाजिक स्थिति की तरह धार्मिक क्षेत्र में भी चुनौतियां कम नहीं थी। इस समय जितनी जातियाँ थी। लगभग उसी अनुपात में उनकी अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताएं, पूजा-पाठ और कर्मकांड थे, जो धार्मिक विकृति के साथ-साथ सामाजिक विकृति के भी कारण थे। इस संबंध में डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' जी का विचार है कि "शंकरदेव कालीन असम जैसे राजनीतिक दृष्टि से विशृंखल और रूढ़ियों से अभिशप्त था, वैसे ही बीसों प्रकार की पूजा-उपासना-पद्धतियों का भी अड्डा बना हुआ था।"[3] इसमें शैव, शाक्त, वैष्णव सभी थे। लेकिन इस क्षेत्र में शाक्तों का प्रभाव अधिक था।

शाक्त संप्रदाय का बोलबाला होने के कारण, इस साधना पद्धति में अनेकों प्रकार के व्यभिचार व्याप्त थे, जो धार्मिक विकृति के साथ - साथ सामाजिक विकृति के भी कारण थे क्योंकि धर्म किसी भी समाज की धुरी होती है, यदि इसमें विकृतियां होंगी तो सामाजिक विकृति होगी ही। यहाँ के प्रमुख शक्ति पीठों में भी 'वामाचार साधना पद्धति एवं तांत्रिकों का ही प्रभुत्व था। "शक्ति पीठों में कामाख्या सर्व प्रसिद्ध रहा है। यहाँ शक्ति के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त विभिन्न जन -जातियों की देवियों की पूजा, वामाचार एवं तांत्रिक विधि से होती रही है।"[4] इसके लिए बाकायदा तांत्रिक ग्रंथों की रचना भी की गई थी। 'कलिकापुराण' और 'योगिनी तंत्र' वामाचारियों के ग्रंथ हैं। इससे पता चलता है कि शंकरदेव से पहले के असम तथा उनके समय में भी इन तांत्रिकों एवं वामाचारियों की जड़ें, उस परिवेश में कितनी गहराई तक थीं।

ज्यादा विस्तृत रूप से तो नहीं, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में फैली विद्रूपता को उद्घाटित करने के लिए कुछ बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। 'योगिनी तंत्र' नामक ग्रंथ में 'योनि पूजा' और 'कुमारी पूजा' की विस्तृत चर्चा है। इसके साथ ही "नगाँव से प्राप्त' 'उमा आलिंगन' की एक मूर्ति (10 वी शती) गुवाहाटी म्यूज़ियम में देखी जा सकती हैं। जिसमें शिव और उमा पूर्णतः नग्न दिखाये गये है।"[5] ऐसा कोई एक चित्र नहीं है। बल्कि उस समय हिंदू धर्म के अनेक देवी-देवताओं की ऐसी नग्न मूर्तियां बनाई गई हैं। "देवद्वार के पास ही एक पहाड़ी पर 'मदन - कामदेव' के भग्न मंदिर में रति और कामदेव नग्न और

आलिंगमबद्ध ही दिखाये गये हैं।"[6] यह वामाचारियों द्वारा स्थापित धार्मिक स्थापत्य कला के कुछ नमूने हैं।

स्थापत्य कला के साथ ही साथ इसकी साधना पद्धति में भी कम विद्रूपता नहीं है। 'कालिका पुराण' में 'शबरोत्सव' का वर्णन हुआ है- "शबरोत्सव में वेश्याओं, देव-नटियों आदि के साथ साधक रात्रि जागरण करता था। दसवें दिन स्त्री-पुरुषों के गुप्तांगों के नामोच्चार सहित श्रृंगार-सज्जित रमणियों के मध्य अश्लील गीत गाए जाते थे।"[7] धर्म के नाम पर जितनी भी तरह की विकृतियाँ हो सकती हैं, वह सभी व्याप्त थीं। "योगिनी तंत्र' में पंच मकार आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। वामाचार में रमणी मैथुन आवश्यक है। मैथुन हेतु रमणी की प्राप्ति सुगमतापूर्वक ना होने पर धन देकर अथवा बलात प्राप्त करने का विधान है।"[8] क्योंकि धर्म भीरू समाज में अपनी वासना की तृम्ति के लिए इससे सुगम मार्ग और कोई नहीं हो सकता था। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि "मातृ योनि परित्यज्य मैथुन सर्वयोनिषु।"[9] बस माता की योनि छोड़कर सभी योनि से मैथुन क्रिया जा सकता है।

धर्म के ही नाम पर पशु-बली आदि की प्रथा तो प्रचलित थी ही, साथ में नर बलि भी उक्त समय में बहुतायत में प्रचलित थी। उस समय के तांत्रिकों एवं वामाचारियों के ग्रंथों में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध है। विभिन्न जातियों में भिन्न- भिन्न अवसरों पर नर-बलि का प्रावधान है "मनसा देवी की वार्षिक पूजा में राभा नामक जाति एक बालक और एक बालिका की बलि देती थी। खासी जाति में उथलेन नामक सर्प देवता के नाम पर नर बलि का विधान था।"[10] नर बली में भी व्यभिचार समाहित था। कुछ जातियों में नर-बलि के लिए जो अपने आप को प्रस्तुत करता था। उसे अपनी वासना की तृप्ति के लिए स्वेच्छाचार की छूट थी। "आई नाम की वार्षिक पूजा में जो व्यक्ति अपने को बलि के लिए उत्सर्ग करता था।... संभोग के लिए वह जिस स्त्री की इच्छा करता था। उस स्त्री को उसके आगे समर्पित करना पड़ता था।"[11] जीवों की बलि, रुधिर तथा मांस अर्पित करना तो आम बात थी। इसके अलावा वैष्णव धर्म एवं पूजा पद्धति भी प्रचलित थी। लेकिन शाक्तों के जितना उस क्षेत्र में प्रभावशाली नहीं थे। उस समय में वहाँ वैष्णव पूजा पाठ भी तांत्रिक पद्धति से ही की जाती थी।

शंकरदेव के सामने पूरे पूर्वोत्तर भारत को विकृत धार्मिक, सामाजिक, विकृतियों, विद्रूपताओं से मुक्त कराना आसान नहीं था। यदि उस समय के असम में कोई धर्म नहीं होता, तब तो उन्हें अपने धार्मिक, सामाजिक विचारों को प्रचारित, प्रशारित करने में कोई कठिनाई नहीं होती। लेकिन शाक्तों का एक मजबूत धार्मिक, सामाजिक आधार था, जिसकी जड़ें उक्त समाज में गहरे तक धंसी हुई थीं। इसे उखाड़ फेंकना तो दूर, हिला पाना भी कम चुनौतीपूर्ण नहीं था। ऐसे परिवेश में जहाँ स्वयं उनका परिवार भी शाक्त मतावलंबी था। परिवार में भी बलि प्रथा इत्यादि कुप्रथा प्रचलित थी। ऐसे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, चुनौतियों से भरे परिवेश में, शंकरदेव ने नवीन विचारों और धार्मिक, सामाजिक नियम एवं सिद्धांतों को प्रतिपादित किया।

यह नवीन धार्मिक, सामाजिक सिद्धांत, विचार, साधना पद्धति वैष्णव धर्म पर ही आधारित है। लेकिन इसका जैसा स्वरुप उत्तर भारत में मिलता है, वह वैसा ही शंकरदेव के यहाँ नहीं है। शंकरदेव ने अपने समय एवं समाज की धार्मिक, सामाजिक चुनौतियों का सामना करने के लिए उसमें परिवर्तन किया है। यह

परिवर्तन ही शंकरदेव की मौलिक देन है। 'एकशरणिया' धर्म जिस में द्वैत और अद्वैत, सगुण और निर्गुण, सभी का सम्मलित रूप है। देवताओं में विष्णु इसके केंद्र में हैं तथा कृष्ण का चरित्र इसका आधार हैं। धर्म ग्रंथों में 'भागवत' एवं 'गीता' को ही इन्होंने श्रेष्ठ मानकर इसी के आधार पर अपनी रचनाएं इन्होंने कीं। शंकरदेव ऐसा इसलिए कर पाए क्योंकि इन्होंने बारह वर्षों तक संपूर्ण भारत के विभिन्न धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक स्थलों का भ्रमण किया। इस क्रम में वे भारत के विभिन्न भागों में स्थित प्रमुख धार्मिक तीर्थ स्थलों में भी वो गए, तथा वहाँ प्रचलित धर्म तथा धर्म ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन मनन किया। जिससे उनकी चेतना संपूर्ण भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित हुई। शंकरदेव के विचारों की निर्मित में संपूर्ण भारत भ्रमण के द्वारा जो उत्तम और उज्ज्वल उन्हें लगा, उसे उन्होंने स्वीकार कर अपने समय और समाज में स्थित चुनौतियों का उन्होंने सामना किया।

शंकरदेव असम और पूर्वोत्तर भारत के लिए एक तरह से सामाजिक और सांस्कृतिक सूत्रधार बने। इन्होंने अपने धार्मिक एवं साहित्यिक रचनाओं के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं परंपरा को वहाँ और मजबूत किया, क्योंकि "वर्ण्य विषय और विचार भूमि की दृष्टि से एक राष्ट्र की जो समान आकांक्षाए हो सकती हैं, उनमें शंकरदेव उनके मूल तक पहुँचते हुए दिखायी पड़ते हैं। उनके सर्व भारतीय रूप को अग्रसारित करते हैं।"[12] शंकरदेव के द्वारा प्रचारित वैष्णव धर्म तथा उनके द्वारा लिखित धार्मिक, साहित्यिक रचनाएं अपने समय में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक चुनौतियों का प्रतिकार तो करती ही हैं।

साथ में असम तथा उसके आस पास के क्षेत्रों को संपूर्ण भारत से सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्तर पर जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य भी करती हैं। शंकरदेव तथा उनके बाद माधवदेव आदि बाद के संतों के प्रयासों के कारण ही संपूर्ण पूर्वोत्तर का क्षेत्र आज भारत का महत्वपूर्ण अंग है।

इस तरह से शंकरदेव द्वारा रचित धार्मिक, साहित्यिक ग्रंथों को उनके समय एवं समाज से अलगाकर नहीं देखा जा सकता है। 'बरगीत' भी इससे अछूते नहीं हैं। भगवत भक्ति करना तो इसका उद्देश्य है ही, साथ में इसके सामाजिक सांस्कृतिक उद्देश्य भी हैं। अतः जैसे सूरदास के गोपी-उद्धव संवाद का एक उद्देश्य हैं, वैसे ही शंकरदेव के द्वारा रचित गोपी-उद्धव संवाद का भी उद्देश है। इस पर विचार करने से पहले सूरदास के समय एवं तत्कालीन परिस्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

सूरदास की तत्कालीन परिवेश और राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि स्थितियों की जानकारी साहित्य के लगभग सभी जागरूक पाठकों को है, क्योंकि सूरदास के संबंध में बहुत कुछ पढ़ा लिखा गया है। वे अष्टछाप के कवियों में से एक है और ये श्रीनाथ जी के मंदिर में नित्य भजन कीर्तन किया करते थे। पूरे भक्तिकाल के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने अपने इतिहास ग्रंथ में लिखा है। "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह उत्साह नहीं रह गया। उसके सामने ही उसके देव मंदिर गिराए जाते थे, देव मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में वे अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे।... इतने भारी राजनीतिक उलट फेर के पीछे

हिन्दू जन समुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"[13] यह एक ऐतिहासिक स्थिति है। इसे हम बदल या झुठला नहीं सकते। यह सच भी है। इसे स्वीकार करना होगा। हो सकता है विपरीत परिस्थितियों में यहीं से कुछ नई ऊर्जा का संचार होता हो। सूरदास के द्वारा रचित सूरसागर अद्वितीय ग्रंथ है इसकी रचना 'भागवत' की कथा के आधार पर की गई है। लेकिन उस के अंतर्गत वर्णित 'भ्रमरगीत ' या गोपी - उद्धव संवाद में, ज्ञान और भक्ति को लेकर उद्धव एवं गोपियों का तर्क- वितर्क उनकी अपनी मौलिक देन है। वे इस प्रसंग के द्वारा ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। अतः इसके लिए सूरदास ने भागवत पुराण में से गोपी - उद्धव संवाद को लेकर अपने समय की जरूरत और अपनी बात को कहने के लिए उसमें जोड़-तोड़ करते हैं। इस ज्ञान एवं भक्ति के द्वंद्व को प्रदर्शित करने के पीछे उनका उद्देश्य था। वह उद्देश्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी द्वारा लिखे गए इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है। "ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावलि का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है।

निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता सब मतों की एकता आदि को लेकर आगे बढ़ा, जिस पर चलकर अपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातों और योग के टेढ़े-मेढ़े अभ्यासों को ही सब कुछ मान बैठी तथा दम्भ, अहंकार आदि दुरवृत्तियों से उलझने लगी।''[14] सूरदास के द्वारा रचित भ्रमरगीत के मूल में ये समस्याएं जरूर है। इनके मन-मस्तिष्क में अपने समय में प्रचलित योगमार्ग और ज्ञानमार्ग की विकृतियां जरुर थीं। इसीलिए इन्होंने भ्रमरगीत की रचना की तथा भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता स्थापित की। जिसमें भक्त एवं भगवान दोनों ही भाव के धरातल पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। संयोग। का सुख एवं वियोग की पीड़ा दोनों को ही महसूस होती है।

कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं तब गोप-गोपियां तो उदास हैं ही, कृष्ण को भी मथुरा में ब्रज के गोप-गोपियों, नंदराय, यशोदा माता सभी की याद सताती है। यहाँ भक्त एवं भगवान दोनों का मन एक है, हृदय की रागात्मिका वृत्ति एक है। कृष्ण उद्धव के द्वारा अपना संदेश देने और उनका कुशल-क्षेम जानने के लिए उन्हें ब्रज में भेज़ते हैं। जो ज्ञानमार्ग को महत्व देने वाले हैं। इसके पीछे उद्धव के ज्ञान गर्व को दूर करने का उद्देश्य तो है ही, साथ में अपने प्रेमी जनों, भक्तों की सुधि लेना कृष्ण का उद्देश्य है। वे उद्धव को ब्रज भेजते हुए कहते हैं-

"उद्धव ! वेगि ही ब्रज जाहु।

सुरति संदेश सुनाय मेटो बल्लभिन को दाहु।।

अजौं लौं यहि भांति हैहै कछुक सजग सरीर। इतै पर बिनु समाधाने क्यों धरै तिय धीर ।। कहौं कहा बनाय तुमसो सखा साधु प्रवीन?"

सूर सुमति विचारिक क्यौ जिये जल बिनु मीन।।"[15]

यहाँ भक्त की चिंता भगवान को भी है, भक्त की भी अनन्य निष्ठा अपने भगवान में है। गोपियां उद्धव के द्वारा बताये गये ज्ञानमार्ग का तरह-तरह से उपहास उड़ाती हैं। उन्हें ज्ञानी नहीं बनना है। वै तो बस अपने प्रिय, अपने ईश्वर को चाहती हैं, उनका साथ चाहती हैं। गोपियों की भक्ति का मार्ग बिल्कुल सीधा, सरल और सपाट है। इसी सहज भक्ति के मार्ग को सूरदास प्रचारित, प्रसारित करते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार के हठयोग एवं वामाचार की जरुरत नहीं है। गोपियां उद्धव से कहती है-

"हमसे कहत कौन की बाते ?

सुनि उधोः हम समुझत नाहीं फिरि पूछति है तातें ।।

को नृप भयो कंस किन मारयो को वसुधौ सुत आहि ?

वे यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु है मुख चाहि ।।।

दिन प्रति जात सहज गोचारन गोप सखा लै संग।

बासरगत रजनी मुख आवत करत नयन गति पंग ।।

को व्यापक पूरन अविनासी, को बिधि-वेद-अपार ?

सूर वृथा बकवाद करत हौ या व्रज नंद कुमार।।"[16]

इस प्रकार से सूरदास जी ने कृष्ण भक्ति के द्वारा, निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति में से, सगुण भक्ति की श्रेष्ठता को स्थापित किया। इन्होंने अपने आराध्य देव की विभिन्न लीलाओं का गायन कर, ईश्वर के प्रेममय रूप को आम जनता के हृदय में स्थापित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में ठीक ही लिखा है कि "मनुष्यता के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्य पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक भक्त कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।"[17]

इस दृष्टि से सूरदास का काव्य द्वितीय है। इन्होंने 'वात्सल्य' एवं 'श्रृंगार' के अद्भुत रुप अपने गीतों में उकेरे हैं। जो विश्व साहित्य में अद्वितीय हैं। सूरदास के भ्रमरगीत अथवा गोपी उद्धव संवाद का उद्देश्य लगभग यही है।

लेकिन शंकरदेव के द्वारा लिखे गये भक्तिपरक ग्रंथों का उद्देश्य इससे कहीं अधिक व्यापक है। 'बरगीतों' की रचना को भी इसी वृहद् उद्देश्य के अंतर्गत ही समझा जाना चाहिए। शंकरदेव असम या यह कहें कि समूचे पूर्वोत्तर क्षेत्र को वामाचार, तंत्रवाद, जादू-टोना, सामाजिक अराजकता से मुक्त कराना चाहते थे। जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। शंकरदेव को 'नव्य वैष्णव भक्ति' की यह अंतर्दृष्टि उनके भारत भ्रमण की देन है। जिसमें वृंदावन का महत्वपूर्ण योगदान है। डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' ने ठीक ही लक्षित किया है कि "अनुमान किया जाएगा कि शंकरदेव के यात्रा काल में वृंदावन का महत्व चाहे स्थापित न

हुआ हो, पर कृष्ण भक्ति के गीत वहाँ गाये जाते होंगे। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से बरगीतों को वृंदावन के आसपास गाए जाने वाले कृष्ण भक्ति के गीतों की परंपरा का मानना अधिक उपयुक्त होगा।"[18] इस कथ्य के आलोक में बरगीतों में संगृहीत गोपी-उद्धव संवाद का जब अध्ययन, विश्लेषण करते हैं, तब पाते हैं कि उसमें कृष्ण भक्ति से संबंधित गाये जाने वाले गीतों की परंपरा का निर्वाह हुआ है।

शंकरदेव ने मात्र परंपरा का ही निर्वहन नहीं किया है, बल्कि इस प्राप्त हुई परंपरा का उपयोग रचनात्मक ढंग से किया है। वे इसका उपयोग अपने समय और समाज में प्रचलित विभिन्न प्रकार के सामाजिक, धार्मिक बुराइयों से लोगों को मुक्त कराने के लिये करते है तथा भक्ति के सुगम और सरल मार्ग की और समाज को प्रवृत्त करना चाहते हैं, जिससे धार्मिक परिष्कार के साथ-ही-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक परिष्कार हो सके ।। इसी कारण से शंकरदेव के यहाँ समस्त वैष्णव धर्म एवं आदर्श विरोधी, आचार-विचार और सामाजिक, सांस्कृतिक रीतियों, नीतियों का विरोध दिखाई देता है। उन्होंने 'भाव की भक्ति' को कृष्ण के लीला गान के माध्यम से स्थापित किया। जहाँ भक्त और भगवान 'भाव' के एक ही धरातल पर जुड़े हुए हैं। दोनों को ही एक दूसरे की चिंता है। इसमें किसी भी प्रकार के वामाचार, तंत्र-मंत्र की जरूरत नहीं है।

सूरदास के यहाँ गोपी-उद्धव संवाद का उद्देश्य स्पष्ट है। शंकरदेव के यहाँ बरगीतों में भले ही मुखर रूप से वामाचारियों एवं तांत्रिकों का उस तरह से खुले तौर पर मुखरता से विरोध देखने को न मिलता हो, लेकिन इसका उद्देश्य भी तांत्रिकों और वामाचारियों की साधना पद्धति का विरोध करना ही है। शंकरदेव के यहाँ वर्णित गोपी-उद्धव संवाद की भावुकता और रागात्मकता समूचे वामाचार और तंत्रवाद का प्रतिरोधी है।

भक्ति का प्रेममय रूप निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है-

"ध्रुवक' उद्धव बंधु मधुपुरी रहल मुरारु।

काहे नाहेरि रहब, अब, जीवन,

बन भयो भवन हमारू ।।

पद-जाहे वियोगे, आगि, अंग तावय

तिल एकु रहये न पारि।

सोहि ब्रज सूर, दूर गयो गोविंद,

दिस, दस दिवसे आंघारिहन।।"[19]

यहाँ गोपियों की वेदना का चित्रण किसी भी तरह से सूरदास के चित्रण से कमतर नहीं है। शंकरदेव ने हृदय की कोमल वृत्तियों की अभिव्यक्ति को बड़ी ही सरलता से प्रस्तुत पंक्तियों में व्यक्त किया गया है। यहाँ बाह्य एवं आंतरिक प्रकृति का चित्रण इस रूप में किया गया है, मानों दोनों ही एक दूसरे के साहचर्य

में ही पल्लवित हो रहे हों। मनुष्य के सुख- दुख में प्रकृति सदैव सहचरी के रूप में रही है। शंकरदेव के चित्रण में भी गोपियों के दुख में मानों प्रकृति भी दुःखी है-

"देखत कालिंदी गिरि बिरिंदावन।

तनु मनु दहये सदाय ।।

ब्रज-जन-जीवन बहुरि नाहि आवत।

हामाकु करत अनाथा ।।

गोपिनि प्रेम परसि निर झुरये।

शंकर कह गुण गाथा।।"[20]

ऐसे अनेकानेक चित्र शंकरदेव के बरगीतों में भरे पड़े हैं।

एक बात ध्यान देने की है कि शंकरदेव के गोपी-उद्धव संवाद में निर्गुण और सगुण को ले करके तर्क-वितर्क उतना नहीं है, जितना सूरदास के भ्रमरगीत में हैं। यहाँ हृदय के कोमल भावों का ही चित्रण अधिक हुआ है। शंकरदेव के यहाँ कृष्ण उद्धव को ब्रज उनका ज्ञान गर्व दूर करने के लिए नहीं भेजते। बल्कि गोप-गोपियों के दुख को सीमित करने के लिए भेजते हैं, साथ ही अपने मन की व्यथा भी उन तक पहुँचाते हैं-

"ध्रुवक-नाहि सुहृद मोहे गोपिनी समान।

ताहेर दुःख सुनि चुटे मेरि प्राण ।।

पद-ए उद्धव चल गोकुलक लाइ। समरिते मोहे गोपिनीक जीव जाइ ।।

हामाकु सपत सांत करु ब्रजनारि।

बोलिते कमल नयने झुरे बारि।।''[21]

इस तरह की पंक्तियों को जब ध्यान में लाते हैं तो शंकरदेव का उद्देश्य समझने में ज्यादा कठिनाई नहीं होती। वे असम और उसके आस-पास के क्षेत्रों में फैली धार्मिक,सामाजिक विकृतियों, जिसके मूल में शाक्तों के वामाचार और कर्मकांड हैं। उसको अपने समाज से मिटा देना चाहते थे, क्योंकि "तत्कालीन वेद-विरोधी परिवेश की बहुलता को शंकरदेव ने पूरी गहराई से लक्ष्य किया था। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार

के प्रभाव उनके काव्य में दिखायी पड़ते हैं।"[22] शंकरदेव के गोपी-उद्धव संवाद का परोक्ष उद्देश्य तत्कालीन परिवेश में तांत्रिकों एवं वामाचारियों का विरोध करना ही है, क्योंकि कृष्ण की भक्ति में किसी भी प्रकार के वामाचार और तंत्र-मंत्र के लिए कोई जगह नहीं है।

शंकरदेव की चिंता मात्र धार्मिक क्षेत्र में फैली विकृतियों को लेकर ही नहीं है। उनके महत उद्देश्य की पूर्ति के लिये धर्म एक प्रकार से साधन का कार्य करता है। साध्य तो संपूर्ण असम और उसके आस-पास के क्षेत्रों में फैली विभिन्न प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक, जातीय विकृतियाँ हैं, जिसके प्रति वह संघर्षशील रहे हैं। इसी साध्य की पूर्ति करने के लिए वे 'नव्य वैष्णव धर्म', 'एकशरणिया धर्म', सत्रों की स्थापना आदि धार्मिक, सामाजिक कार्य करते हैं। इस कारण भी शंकरदेव के साहित्य में विषयगत विविधता है। सूरदास के यहाँ इतनी विविधता नहीं है। इनके संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि "सूरदास जी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है।"[23]

लेकिन शंकरदेव अपने समय एवं समाज में फैले आनाचार, अत्याचार, धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में फैली विकृतियों से व्यथित है। वे इसे दूर करने का क्रांतिकारी प्रयास करते हैं। अपने धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक कार्यों के द्वारा लोगों में चेतना जगाने का कार्य करते हैं। इस संबंध में शंकरदेव की तुलना तुलसीदास जी के साथ की जा सकती है।

शंकरदेव ने 'नव्य वैष्णव धर्म' और 'सत्रों' की स्थापना के द्वारा असम और असमिया समाज को एक नयी पहचान दी। असम और उसके आसपास के क्षेत्रों को संपूर्ण भारतीय संस्कृत से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। 'धर्म' संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है, इसे अलग करके नहीं देखा जा सकता है। उन्होंने भारत भ्रमण के दौरान धर्म, दर्शन के ज्ञान के साथ ही साथ सांस्कृतिक अनुभवों को भी प्राप्त किया था। जिसका उपयोग उन्होंने अपने समाज को एकीकृत करने के लिए किया। "विभिन्न संस्कृतियों के समन्वयन और जातियों के पारस्परिक मेल से एक अपेक्षाकृत नवीन भारतीय संस्कृति के विकास में समकालीन असम की जो भूमिका रही है। उसके बहुत बड़े पुरस्कर्ता रहे हैं 'शंकरदेव'।"[24] इन्हीं के प्रयासों से असम और पूर्वोत्तर में भारतीय संस्कृति लोगों की रगों में समाहित है। इन्हीं के प्रयासों से वहाँ के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना अपने गहरे संदर्भों में विद्यमान है। आज जरुरत शंकरदेव जैसे महान संतों के द्वारा किए गए कार्यों को, राष्ट्रीय फलक पर प्रचारित, प्रसारित करने की है। जिससे इनका महत्व समस्त राष्ट्र के सम्मुख स्थापित हो सके।

उपसंहारः-

शंकरदेव के आध्यात्मिक चिंतन और सांस्कृतिक भाव बोध के द्वारा आज संपूर्ण असम और पूर्वोत्तर भारत राष्ट्र का एक अभिन्न अंग है। शंकरदेव के द्वारा स्थापित 'सत्र व्यवस्था' आज भी भारतीय धार्मिक

परंपराओं तथा संस्कृतियों का ध्वज वाहक है। यह बिल्कुल ही भ्रांत धारणा है कि अंग्रेजों के भारत आने से पहले यहाँ के लोगों में राष्ट्र और राष्ट्रीयता का कोई बोध नहीं था। भारत और यहाँ के निवासी सदियों से धार्मिक सांस्कृतिक रूप से आपस में जुड़े हुए थे और इसी रूप में हमारे भीतर राष्ट्रीयता और राष्ट्र का बोध रहा है। जिसे निरंतर प्रचारित प्रसारित करने का कार्य भक्तों और संतों ने किया। आजादी के बाद विभिन्न ज्ञान के प्रतिष्ठानों पर 'वामाचारियों' या 'मार्क्सवादियों' का ही प्रभुत्व रहा। इन्होंने इतिहास को अपने तरीके से तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया। इन्होंने साम्राज्यवादियों की ही तरह यहाँ के धर्म, सामाजिक, सांस्कृतिक नीतियों रीतियों का उपहास उड़ाया। इस तरह से ये साम्राज्यवादियों के हितों का ही पोषण करते रहे हैं और आज भी अपनी प्रेरणा वहीं से ग्रहण कर रहे हैं। आज जरूरत इतिहास को नये तरीके से लिखने की है। जिससे शंकरदेव जैसे इतिहास पुरुषों के महत्व और योगदान को स्थापित किया जा सके।

पूर्वोत्तर के साथ अपने सामाजिक सांस्कृतिक संबंधों को और मजबूत बनाए रखने के लिए, यह आवश्यक है कि शंकरदेव जैसे और संतों, भक्तों तथा संपूर्ण भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को असम में फैलाने वाले, महत्वपूर्ण व्यक्तियों, विद्वानों, साहित्यकारों तथा उनके साहित्य का अध्ययन विश्लेषण किया जाय। जिससे आपसी संबंध और मजबूत होंगे और राष्ट्र को मजबूती प्राप्त होगी। यह तुलनात्मक अध्ययन इसी मद्दत उद्देश्य की एक कड़ी है।

संदर्भ:-1. महाकवि शंकरदेव 'डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद' 'मागध', पृ. 96-97

2. वही पृ. 97

3. वही पृ. 101

4. वही पृ. 104

5. वही पृ. 104

6. वही पृ. 105

7. वही पृ. 105

8. वही पृ. 105

9. वही पृ. 105

10. वही पृ. 106

11. वही पृ. 106

12. वही पृ. 119

13. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्रशुक्ल, पृ. 60

14. 'भ्रमरगीत' 'सार' आचार्य रामचंद्र शुक्ल, वक्तव्य - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ.1

15. वही पृ. 5

16. वही पृ. 10

17. वही पृ. 2 (महाकवि सूरदास जी, आलोचना)

18. महाकवि शंकरदेव, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद, 'मागध', पृ.118

19. महापुरुष शंकरदेव, ब्रजबुलि, ग्रंथावली, डॉ.लक्ष्मीशंकर गुप्त, पृ. 371

20. वही पृ. 372

21. वही पृ. 375

22. महाकवि शंकरदेव, कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 118

23. भ्रमरगीत, सार पृ. 48

24. महाकवि शंकरदेव, डॉ. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध', पृ. 118

ई. मेल- vijaym2004du@gmail.com